दयानन्द रत्नमाला

विश्वनाथ, एम. ए.

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अर्द्ध-शताब्दी का उपहार

दयानन्द रत्नमाला

विश्वनाथ, शास्त्री, एम० ए०

इस पुस्तक के मुद्रण तथा काग़ज़ का व्यय श्री ला० लभूराम जी नय्यड़ लुधियाना निवासी तथा उनके मित्र-मण्डल ने दिया।

प्रकाशक

भीमसेन विद्यालंकार,

मन्त्री,

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब,

गुरुदत्त भवन, लाहौर ।

दयानन्दाब्द १११

विक्रमी १९९२

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य ।)

मुद्रक,

ठाकुर जगजीतसिंह पाल,

बसन्त प्रिंटिंग प्रैस,

आर्य समाज अनारकली, लाहौर ।

प्राक्कथन

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अर्द्ध-शताब्दी के शुभ अवसर पर यह रत्नमाला प्रकाशित की जा रही है। पुण्य-स्मरण ऋषि दयानन्द के शक्ति-संचारी वचनों ने आर्य जाति में नव-जीवन का संचार किया है। इस युग में ऋषि ने वैदिक धर्म के सार्वभौम स्वरूप को मनुष्य जाति के सामने उपस्थित किया है। आर्यसमाज के १० नियमों में वैदिक धर्म का सार्वभौम रूप अंकित किया गया है। ऋषि दयानन्द ने अपने अनेक ग्रन्थों में इस स्वरूप का आविष्कार किया है। सर्व साधारण जनता के सामने इस धर्म के इस सार्वभौम रूप को ऋषि के अपने शब्दों में प्रकट करने के लिए यह रत्नमाला तय्यार की गई है। ऋषि दयानन्द के अमृत वचनों के प्रति पद में निर्भयता और सच्चाई झलक रही है। इस पुस्तक में आर्यसमाज के १० नियमों के समर्थक तथा समर्पक ऋषि-वाक्यों का १० नियमों के क्रम से संग्रह किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि आर्य भाई इस का स्वाध्याय कर अपने आपको ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित नवयुग का संदेश-हर बनाने का प्रयत्न करेंगे।

लाहौर,

१ मार्गशीर्ष, १९९२

भीमसेन,

मन्त्री,

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर।



स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत मोरवी राज्य के टङ्कारा नामक नगर में एक ब्राह्मण कुल में संवत् १८८१ तदनुसार सन् १८२४ में हुआ। आपके पिता का नाम कर्षनजी था। पिता ने अपने प्यारे पुत्र का नाम मूलजी रक्खा। मूलजी की शिक्षा का प्रबन्ध बाल्यकाल में ही किया गया। यजुर्वेद कण्ठस्थ करने के अतिरिक्त आपने कई एक अन्य विषयों का भी अध्ययन किया।

आपके पिता भूमिहारी और जमादारी का कार्य्य करते थे और शिव के बड़े उपासक थे। शिवरात्रि के दिन बालक को मन्दिर में ले गए और उसे उपवास करा जागरण का आदेश दिया। जब बड़े-बड़े भक्त सो गए वह भावी ऋषि प्रयत्न-पूर्वक जागता रहा। नींद आने पर वह जल के छींटों से उसे दूर भगाते। पर उनका चित्त आश्चर्य-चकित हो गया जब इन्होंने देखा कि शिव-पिण्डी पर अपवित्र, क्षुद्र जन्तु चूहे कूद-कूद कर चढ़ते हैं और उसपर चढ़ाया हुआ भक्तों का पूजोपहार बड़े आनन्द से खा रहे हैं। इस घटना को देखकर बालक के हृदय में शङ्का उत्पन्न हुई। शङ्का समाकुल हृदय में उन्होंने सोचा कि शिव-कथा में तो मैंने सुना है कि शिव त्रिशूलधारी है, वह पाशुपतास्त्र से दैत्यों का संहार करता है तो क्या उसी महादेव की मूर्त्ति यह हो सकती है? अहो! इ के सिर पर तो ये चूहे दौड़ लगा रहे है, उसके चढ़ावे को बड़ी निर्भयता से खा रहे हैं। इस में तो इन तुच्छ जीवों को भगाने का बल भी नहीं। यह महादेव कैसा? शिवरात्रि बीत गई, परन्तु शिवरात्रि की घटना उनके हृदय

में गड़ सी गई। मूलजी के चढ़ते यौवन को दूसरी चेतावनी भगिनी और चाचे की मृत्यु से मिली। पिता को जब पता लगा कि बालक पर वैराग्य का भूत सवार है तो उन्होंने महात्मा बुद्ध के पिता की तरह विवाह के डोरों में जकड़ने की ठानी परन्तु ठीक विवाह की रात्रि को २२ वर्ष की अवस्था में मूलजी घर से लुप्त हो गए। मूलजी की वन-यात्रा की कथा बहुत लम्बी है। पहिले किसी ने ठग लिया। इन्हें शुद्ध चैतन्य नाम दकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनाया गया। फिर यह संन्यासी हुए और दयानन्द सरस्वती नाम पाया। योगियों यतियों के पास योग साधन करते रहे। समाधि का आनन्द लाभ किया। गिरि गुहाओं में कई दिन बिताए। पुस्तकें खोजीं और उनका अध्ययन किया। मैदान में सोये, वृक्षों की शाखाओं में विश्राम किया। मूल-कन्द खाकर भूख मिटाई।

३६ वर्ष से ऊपर के थे जब दण्डी विरजानन्द की कुटिया पर विद्या-वित्त के भिक्षु हुए और ढाई वर्ष पर्यन्त गुरु-वर के चरणों में बैठ कर अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्त-सूत्र तथा अन्य अनेक आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया। अन्त में दीक्षान्त का समय आया। निर्धन ब्रह्मचारी गुरु दक्षिणार्थ लौंगों की भीख माँग लाया और दक्षिणा रूप में भेंट किये। गुरुवर ने कहा:—

"वत्स मैं आपके लिए मंगल-कामना करता हूँ। ईश्वर आपकी विद्या को सफलता प्रदान करे। परन्तु गुरु-दक्षिणा में इन लौंगों से भिन्न वस्तु माँगता हूँ। वह वस्तु तुम्हारे पास भी है। वत्स! भारत देश में दीन हीन जन अनेक-विध दुःख पा रहे हैं। जाओ उनका उद्धार करो।

मत मतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई हैं उन्हें निवारण करो। आर्य जनता की बिगड़ी हुई दशा को सुधारो। आर्य सन्तान का उपकार करो। ऋषि शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रन्थों के पठन पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ। गङ्गा यमुना के निरन्तर गतिशील प्रवाह की भान्ति लोक हित कामना से क्रियात्मक जीवन बिताओ। प्रिय पुत्र ! अन्य किसी-भी सांसारिक पदार्थ की मुझे चाहे नहीं।"

संवत् १९२० में ऋषि ने प्रचार-क्षेत्र में पदारोपण किया। विविध स्थानों पर उपदेश करते हुए संवत् १९२२ में पुष्कर के मेले पर पहुँचे। आपके उपदेश से लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कण्ठियाँ उतार-उतार कर ब्रह्माजी के मन्दिर के एक कोने में ढेर लगा दिया। तदनन्तर आप संवत् १९२४ में हरिद्वार कुम्भ पर पहुँचे और पाखण्ड-खण्डिनी पाताका लगा कर प्रचलित कुरीतियों का खूब खण्डन किया। परन्तु जाति की दुरवस्था को देख कर आपके चित्त-चन्द्र में उदासीनता की एक रेखा उभर आई। आपने कुछ समय के लिए सर्वस्व त्याग कर दिया और कौपीन-मात्र पहनते हुए मौन-व्रत धारण कर लिया।

देश में इतने अत्यधिक अज्ञानान्धकार को देखते हुए स्वामी जी कब तक मौन धारणकर सकते थे। पुनः प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। पाठशालाएँ खोलीं और पुस्तकें लिखनी प्रारम्भ कीं। श्रावण १९२६ में मिस्टर थेन, संयुक्त मैजिस्ट्रेट की अध्यक्षता में लक्ष्मण शास्त्री और हलधर ओझा के साथ स्वामी जी का कानपुर में शास्त्रार्थ हुआ। प्रधान की व्यवस्थानुसार संन्यासी की युक्तियाँ वेदानुकूल थीं। पुनः कार्त्तिक, १९२६ में काशी में आपने जगत्विख्यात शास्त्रार्थ किया। पौष १९२६

में श्री चन्द्रशेखर सेन बैरिस्टर के बुलाने पर स्वामीजी महाराज कलकत्ता पहुँचे। यहाँ उस समय ब्राह्मसमाज का बड़ा ज़ोर था। श्री केशवचन्द्रजी के कहने पर आपने संस्कृत के स्थान पर हिन्दी बोलना और वस्त्र धारण करने प्रारम्भ किए। आश्विन १९३१ में आप बम्बई पहुँचे। यहाँ प्रार्थना समाज का बड़ा प्रचार था। जब स्वामीजी महाराज दूसरी बार बम्बई पहुँचे तो प्रचार को संगठित करने के लिए चैत्र सुदी ५ सं० १९३२ शनिवार को आर्यसमाज की स्थापना की। समाज के २८ नियम बनाए गये जो पुनः लाहौर में वैशाख १९३४ को संशोधित किये गए और संख्या घटा कर १० कर दी गई और उपनियम पृथक् कर दिये गए। आषाढ़ १९३२ को आप पूना पधारे और लगभग १५ व्याख्यान दिये। मार्च १८७७ को चांदापुर (शाहजहांपुर) में आपका ईसाइयों और मुसलमानों के साथ एक विख्यात शास्त्रार्थ हुआ। वैशाख १९३४ को लुधियाना होते हुए आप ब्राह्म समाजियों द्वारा निमन्त्रित लाहौर पहुँचे। यहाँ आर्यसमाज के नियम संशोधित किये गये और आर्यसमाज की स्थापना हुई। स्वामीजी के अमृतसर पधारने पर आषाढ़ १९३४ को वहाँ आर्यसमाज स्थापित होगया। इसी भांति आपने गुरदासपुर, बटाला, जालन्धर, फ़ीरोज़पुर, रावलपिण्डी, झेलम, गुजरात, वज़ीराबाद, गुजरांवाला, मुलतान, अम्बाला, इत्यादि स्थानों पर भ्रमण करते हुए डेढ़ वर्ष पञ्जाब में प्रचार किया। विविध नगरों में प्रचार करते हुए आप जोधपुर पहुँचे। जहां एक दुष्ट व्यक्ति ने षड्यन्त्र रच कर आपको विष दे दिया और आप कुछ सप्ताह रुग्ण रहकर कार्त्तिक अमावस्या १९४० तदनुसार ३० अक्तूबर १८८३ मङ्गलवार दीपावली के दिवस सायं ६ बजे अजमेर नगर में स्वर्ग का सिधार गए।

* ओ३म् *

सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि-मूल परमेश्वर है ॥ १ ॥

परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी वाञ्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है।[1]

महर्षि दयानन्द कृत ग्रन्थों से उद्धरणों की पाद-टिप्पणियों में पृष्ठ संख्या वैदिक यन्त्रालय, अजमेर द्वारा मुद्रित ग्रन्थों से दी गई है।

१ सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ ११४ (संवत् १९८५ में २२वीं बार मुद्रित)

परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है। हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपा-दृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें। वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपा-दृष्टि सदैव रखता है। इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिए किया है जो परमेश्वर अपनी वेद-विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिए न करता तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसीको यथावत् प्राप्त न होती, उसके बिना परम आनन्द भी किसीको नहीं होता। जैसे परम कृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिए कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करने वाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेद-विद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिए क्यों न करता। २

२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ १४
(सं० १९८५ में छठी वार मुद्रित)

ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है । उसीकी उपासना करनी योग्य है ॥२॥

जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतन-मात्र वस्तु है तथा जो अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्य गुण वाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्व जीवों को पाप पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है उसको ईश्वर कहते हैं ।[3]

स्तुति से ईश्वर में प्रीति उसके गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना. उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना ।[4]

३ आर्य्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न संख्या १

४ सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ ११५

जीव इसका वही एक योग्य मित्र है अन्य कोई नहीं क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है उससे परे जीव का हितकारी कोई और नहीं हो सकता इससे परमात्मा से सदा मित्रता रखनी चाहिए।५

हमको दृढ़ निश्चय है कि आपके विना दूसरा कोई किसीका काम पूर्ण नहीं कर सकता। आपको छोड़के दूसरे का ध्यान वा याचना जो करते हैं, उनके सब काम नष्ट हो जाते हैं।६

जिनको आपकी सहायता है उनका सर्वत्र विजय होता ही है।७

तन, मन, धन और आत्मा इनसे प्रयत्न-पूर्वक ईश्वर के साहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिए।८

---

५ आर्याभिविनय, पृष्ठ ४१ (गुटका साइज़ में सं० १९८३ में आठवीं वार मुद्रित)

६ आर्याभिविनय, पृष्ठ ५६

७ आर्याभिविनय, पृष्ठ ६५

८ आर्याभिविनय, पृष्ठ १५६

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है ॥ ३ ॥

वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उनमें जितने मन्त्र और पद हैं वे सब सम्पूर्ण सत्य विद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं।९

जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं।१०

जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाए हैं वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किए हैं।११

जैसे माता, पिता अपने सन्तानों पर कृपा-दृष्टि कर उन्नति चाहते हैं वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रम-जाल से छूटकर विद्या विज्ञान-रूप सूर्य

९ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारविषय, पृष्ठ ८२

१० ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ब्रह्मविद्याविषय, पृष्ठ ९३,

११ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पृष्ठ ४५

को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायँ।१२

जिस बात में ये सहस्र एक-मत हो वह वेद-मत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठा, अधर्म अग्राह्य है।१३

१२ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ७, पृष्ठ १३१

१३ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११, पृष्ठ २५१

सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए ॥४॥

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसी-लिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अवि-

द्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि का तात्पर्य है। किन्तु जिस-से मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परि-त्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं।१४

यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेक-विध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जोकि, स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःख-सागर में डुबा दिया है। इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्यमें धर प्रवृत्त होता है उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं परन्तु 'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः' अर्थात् सर्वथा सत्य का

---

१४ सत्यार्थप्रकाश, भूमिका

विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ करने से नहीं हटते।१५

जबतक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तबतक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध जाल में फँसा रखा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंस कर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो अभी ऐक्य मत हो जायँ।१६

जबतक वादी प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय तबतक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है, इसलिए सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ

---

१५ सत्यार्थप्रकाश, भूमिका

१६ सत्यार्थप्रकाश, उत्तरार्द्ध, अनुभूमिका १, पृष्ठ १७५

मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है।१७

सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मतविषयक पुस्तकों को देख समझ कर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें नहीं तो सुना करें, क्योंकि जैसे पढ़ने से पण्डित होता है वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है, जो कोई पक्षपात-रूप यानारूढ़ होके देखते हैं उनको न अपने और न पराये गुण दोष विदित हो सकते हैं। मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित वा श्रुत है उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वाले के विषयों को जाने और अन्य न जाने तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाड़े में घिर जाते हैं.........जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सब में एक से हैं......... यदि वादी प्रतिवादी सत्यासत्य निश्चय के लिए वाद-प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाय।१८

---

१७ सत्यार्थप्रकाश, अनुभूमिका २, पृष्ठ २६०

१८ सत्यार्थप्रकाश, अनुभूमिका ३, पृष्ठ ३०४

सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जान कर गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ दुराग्रह न्यून करें करावें क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं। सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंग जीवन म पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है।१९

जबतक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तबतक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य-विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्य-मात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती सन्देह-निवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय के विना सुख कहाँ?२०

विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुण-ग्राहक पुरुष विद्वान होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप फलों को प्राप्त हो कर प्रसन्न रहते हैं।२१

---

१९ सत्यार्थप्रकाश, अनुभूमिका ४, पृष्ठ ३४४

२० सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४, पृष्ठ ६५

२१ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास १०, पृष्ठ १७४

जब उत्तम-उत्तम उपदेशक होते हैं तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते तब अन्धपरम्परा चलती है। फिर भी जब सत्पुरुष उत्पन्न होकर सत्योपदेश करते हैं तभी अन्धपरम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है।२२

सत्यभाषण, अहिंसा, दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं बाकी वाद-विवाद, ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं।२३

विद्वानों के बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने-अपने ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का प्रकाश करें। एक-दूसरे की निन्दा करना, बुरे वचनों से बोलना, द्वेष से कहना कि यह हारा और मैं जीता ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिए। सब प्रकार पक्षपात छोड़कर सत्यभाषण करना सब को उचित है। और एक-दूसरे से विरोध-वाद करना यह अविद्वानों स्वभाव है विद्वानों का नहीं।२४

---

२२ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११, पृष्ठ १८१.

२३ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास १४, पृष्ठ ३८६

२४ सत्यधर्मविचार, पृष्ठ ८ (सं १९८१ में १० वीं वार मुद्रित)

सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ ॥ ५ ॥

जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात-रहित न्याय सर्वहित करना है जोकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए यही एक मानना योग्य है उसको धर्म कहते हैं।२५

जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते।२६

जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन, परोपकार करना रूप धर्म, जो इसके विपरीत वह अधर्म कहाता है क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा।२७

जो न्यायाचरण सबेक हित का करना आदि कर्म हैं उनको धर्म और अन्यायाचरण सबके अहित के काम करने हैं

---

२५ आर्य्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न सं० २

२६ व्यवहारभानु, भूमिका

२७ व्यवहारभानु, पृष्ठ १४ (सं० १९६२ में ७वीं वार मुद्रित)

उनको अधर्म जानो ।२८

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक होके खाने पीने बोलने सुनने बैठने उठने लेने देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथा-योग्य करता है वह कहीं भी कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता ।२९

---

२८ व्यवहारभानु, पृष्ठ २०

२९ व्यवहारभानु, पृष्ठ ४१

संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ॥ ६ ॥

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभाव-युक्त, सत्यभाषणादि नियम पालन-युक्त और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं।३०

जो-जो बात सब के सामने माननीय है उनको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ और जो मत-मतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसाके परस्पर शत्रु बना दिए हैं। इस बातको काट सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको एक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रति-युक्त कराके सबसे सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है । सर्व-

---

३० सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पृष्ठ २१.

शक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय, और आप्त जनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।३१

सब आर्य और आर्य सभासदोंको उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनन्द उत्सव में निमन्त्रण पर सहायक हों और छोटाई बड़ाई न गिनें।३२

कोई आर्य्य भाई किसी हेतु से अनाथ होजावे वा किसी की स्त्री विधवा वा सन्तान अनाथ हो जावे अर्थात् उसका किसी प्रकार जीवन न हो सकता हो और यदि आर्य्यसमाज इसको निश्चित जान ले, तो आर्य्यसमाज उसकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे।३३

जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्म-युक्त समझें उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बाँधा करे। परन्तु इसपर नित्य ध्यान रखे कि जहाँ तक बन सके वहाँ तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें।

---

३१ सत्यार्थप्रकाश, अन्तिम निवेदन, पृष्ठ ३९४

३२ आर्य्यसमाज-उपनियम, संख्या ३७

३३ आर्य्यसमाज-उपनियम, संख्या ३८

युवावस्था में भी विना प्रसन्नता के विवाह न करना कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना कराना। व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या ज्ञान बढ़ाये जायँ और शरीर का बल न बढ़ावें तो एक ही बलवान् पुरुष ज्ञानी और सैंकड़ों विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाय आत्मा का नहीं तो भी राज्य-पालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस ही में फूट-टूट विरोध लड़ाई झगड़ा करके नष्ट भ्रष्ट हो जायँ। इसलिए सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिए। जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अति विषयासक्ति है वैसा और कोई नहीं।३४

जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का सङ्ग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं वे सब तीर्थ कहाते हैं क्योंकि इन करके जीव दुःख-सागर से तर जा सकते हैं।३५

---

३४ सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास, पृष्ठ ११०

३५ आर्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न सं० २०

जिस से सब बुरे काम और जन्म मरणादि दुःख-सागर से छूटकर सुख-रूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है वह मुक्ति कहलाती है।३६

परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसङ्ग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने, और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात-रहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सब से उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात-रहित न्याय धर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनके विपरीत ईश्वराज्ञा भङ्ग करने आदि काम से बन्ध होता है।३७

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मा, विद्या, सत्सङ्ग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है वही जन अतीव भाग्यशाली है क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्य विद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूटके परमानन्द परमात्मा

---

३६ आर्य्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न सं० २९

३७ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ९, पृष्ठ १५२

की प्राप्ति-रूप जो मोक्ष उसको प्राप्त होता है और दुःख-सागर से छूट जाता है, परन्तु जो विषय-लम्पट, विचार-रहित, विद्या, धर्म, जितेन्द्रियता, सत्सङ्ग-रहित, छल, कपट, अभिमान, दुराग्रहादि दुष्टता-युक्त है सो वह मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह ईश्वर-भक्ति से विमुख है।३८

जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है वह स्वर्ग कहाता है।३९

जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है उसको नरक कहते हैं।४०

जो पूर्व जन्म को न मानोगे तो परमेश्वर पक्षपाती हो-जाता है क्योंकि विना पाप के दरिद्रयादि दुःख और विना पूर्व-सञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता उसको क्यों दी गई ?४१

देखो ! एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा

---

३८ आर्याभिविनय, उपक्रमणिका, पृष्ठ ५

३९ आर्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न सं० १४

४० आर्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न सं० १५

४१ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ९, पृष्ठ १५६

की राणी के गर्भ में आता और दूसरा महा दरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है । एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है । एक जब जन्मता है तब सुन्दर सुगन्धि-युक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाडी-छेदन, दुग्धपानादि यथायोग्य प्राप्त होते हैं । जब वह दूध पीना चाहता है तो उसके साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिए नौकर चाकर खिलौना सवारी उत्तम स्थानों में लाड़ से आनन्द होता है। दूसरे का जन्म जङ्गल में होता, स्नान के लिए जल भी नहीं मिलता, जब दूध पीना चाहता, तब दूध के बदले में घूँसा थपेड़ा आदि से पीटा जाता है । अत्यन्त आर्त स्वर से रोता है। कोई नहीं पूछता इत्यादि ।४२

वर्ण-व्यवस्था गुण कर्मों के अनुसार होनी चाहिए जन्म-मात्र से नहीं । जो पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी, जितेन्द्रिय, मिथ्याभाषणादि दोष-रहित विद्या और धर्म-प्रचार में तत्पर रहे इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हों वह ब्राह्मण ब्राह्मणी। विद्या बल शौर्य न्यायकारित्वादि गुण जिसमें हों

४२ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ९, पृष्ठ १६०

वह क्षत्रिय क्षत्रिया। और जो विद्वान् होके कृषि, पशुपालन, व्यापार, देशभाषाओं में चतुरता आदि गुण जिसमें हों वह वैश्य वैश्या। और जो विद्या-हीन, मूर्ख होरहे वह शूद्र शूद्रा होवे। इसी क्रम से विवाह होना चाहिए अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द आता है, अन्यथा नहीं।...

धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो-जो कर्त्तव्य अधिकार-रूप कर्म हैं वे सब गुण कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें। वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण नीचे-नीचे के वर्ण को प्राप्त होवे और वे ही उस-उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें। उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह क्षत्रिय वैश्य शूद्र, और क्षत्रिय वैश्य शूद्र, तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते और उत्तम वर्ण, भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊँ इसलिए

बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं। इस से संसार की बड़ी उन्नति है।४३

जो ऐसा न माने उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे ? क्या जिसका पिता अन्धा हो उसका पुत्र भी अपनी आँखों को फोड़ लेवे ? जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म ही करे ? नहीं-नहीं किन्तु जो-जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों उनका सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सबको आवश्यक है। जो कोई रज वीर्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिए इसलिए वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में

---

४३ संस्कारविधि, विवाह प्रकरण, पृष्ठ १४०, १४१

और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।४४

जिस जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण कर्म हों उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नति-शील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोष-युक्त होंगे तो शूद्र होजायँगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्या-युक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देनेसे कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्या-रहित मूर्ख होने से विज्ञान-सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता किंतु शरीर

---

४४ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४, पृष्ठ ५४

के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है।४५

राजा और प्रजा के पुरुष मिल के सुख-प्राप्ति और विज्ञान वृद्धि कारक राजा प्रजा के सम्बन्ध-रूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा, राजार्य सभा नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजा-सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य धर्म सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।४६

एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए किंतु राजा को सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।४७

वह [राजा] एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे, उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवाँ पुरुष रक्खे अर्थात् आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में

---

४५ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४, पृष्ठ ५७

४६ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६, पृष्ठ ८८

४७ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६, पृष्ठ ८८

एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पाँच थानों पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक ज़िला नियत किया है। यह वही अपने मनु आदि धर्म-शास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है। इसी प्रकार प्रबन्ध करे और आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्य-प्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों उन-उन को गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित करदे और वह दश-ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्त्तमान नित्य-प्रति जना देवे । और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्त्तमान को शत-ग्रामाधिपति को नित्य-प्रति निवेदन करे। वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हज़ार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्त्तमान को प्रति दिन जनाया करें। और बीस-बीस ग्राम के पाँच आधिपति सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को और लक्ष ग्रामों की राज-सभा को प्रति दिन का वर्त्तमान जनाया करें। और वे सब राज-सभा महाराज-सभा अर्थात् सार्वभौमचक्रवर्त्ति महा-राज-सभा में सब भूगोल का वर्त्तमान जनाया करें।[४८]

---

४८ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६, पृष्ठ ९८

कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित अपने और पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय, और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। ४९

जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। ५०

---

४९ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८, पृष्ठ १४५

५० सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११, पृष्ठ २४९

सबसे प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य, वर्त्तना चाहिए ॥ ७ ॥

मनुष्य उसीको कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे, इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण-रहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महा बलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँतक हो सके वहाँतक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे, इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपन-रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। ५१

जब सबको लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है तो विना अपराध किसी प्राणी का प्राण-वियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे? ५२

---

५१ सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, पृष्ठ ३९०

५२ गोकरुणानिधि, भूमिका

देखिए ! जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृत-रूपी रत्न देवें, हल गाड़ी में चलके अनेक-विध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ाके नीरोगता करें, पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बाँधे वहाँ बन्धे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहाँ से हटावें वहाँ से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारने वाले को देखें अपनी रक्षा के लिए पालन करने वाले के समीप दौड़ कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा।

जिनके मरे पर चमड़ा भी कण्टक आदि से रक्षा करे, जङ्गल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिए दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिए तन मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिए है, इत्यादि शुभ गुण-युक्त सुख-कारक पशुओं के गले छुरों से काट कर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते है, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती अनुपकारी दुःख देने वाले और पापी जन होंगे ? ५३

---

५३ गोकरुणानिधि, पृष्ठ ६ (सं० १९७८ में १० वीं बार मुद्रित)

हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? हाय ! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिए ले जाते हैं तब वे अनाथ तुम हमको देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं कि देखो ! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं और हम रक्षा करने तथा मारने वालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिए उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते । देखो ! हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिए है और हम इसलिए पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें, हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते तो क्या हममें से किसीको कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारने वालों को न्याय-व्यवस्था से फाँसी पर न चढ़वा देते ? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं। ५४

---

५४ गोकरुणानिधि, पृष्ठ १२

अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ॥ ८ ॥

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य ! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसीसे नहीं । जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता।५५

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। ५६

सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव-रूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है । सोने, चान्दी, मणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी भी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों

---

५५ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २, पृष्ठ १५

५६ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २, पृष्ठ १६

के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। ५७

आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें। ५८

विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक-दूसरे से दूर होनी चाहिए। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जबतक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें तबतक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त-सेवन, भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीडा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बल-युक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

---

५७ सत्यार्थप्रकाश, समल्लास ३, पृष्ठ २१

५८ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पृष्ठ २१

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहें। सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिए जायँ, चाहे वे राजकुमार वा राजकुमारी हो चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें जब भ्रमण करने को जायँ तब उनके साथ अध्यापक रहें। जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें। ५९

राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिए कि पाँचवे अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। ६०

जो आचार्य और माता पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुण-ग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसीका उपदेश करे और वे सन्तान आप ही आप

---

५९ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पृष्ठ २१,२२

६० सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पृष्ठ २२

अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें। ६१

वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वशुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्त्तें। यही कोश अक्षय है। इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाय। अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निज भाग लेते हैं और विद्या कोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। ६२

जो मनुष्य विद्वान्, सत्सङ्गी होकर पूरा विचार नहीं करता वह सदा भ्रम-जाल में पड़ा रहता है। धन्य वे पुरुष हैं कि सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जानने के लिए परिश्रम करते हैं, जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं। ६३

---

६१ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पृष्ठ २७

६२ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पृष्ठ ४६

६३ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८, पृष्ठ १४२

जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा डंडे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा। पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा। ६४

जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी, परस्त्री-त्यागी, एक-स्त्री-व्रत, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा वह भी बना बनाया धूल में मिल जायगा।६५

जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण-रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहण-पूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है। ६६

स्त्री और पुरुष का बहु-विवाह युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं होने चाहिएँ। ६७

---

६४ संस्कारविधि, वेदारम्भ प्रकरण, पृष्ठ १०९

६५ संस्कारबिधि, वेदारम्भ प्रकरण, पृष्ठ १०९ (सं० १९८९ में १८वीं वार मुद्रित)

६६ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४, पृष्ठ ५०

६७ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लाह ४, पृष्ठ ७०

जो अपने कुल की उत्तमत्ता, उत्तम सन्तान, दीर्घायु, सुशील, बुद्धि बल पराक्रम-युक्त विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें वे १६ (सोलहवें) वर्ष से पूर्व कन्या और २५ (पच्चीसवें) वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें । यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करने वाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें । ६८

स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढी और अधिक से अधिक से दूनी होवे ६९

जबतक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती । ७०

बड़ी-बड़ी बिरादरियों के अन्दर बहुत-सी फ़िर्क़ा-बन्दियों के कारण बिरादरियों के सम्बन्ध में ख़र्च बहुत बढ़ता जाता है। चाहें कोई मरे, चाहे किसी का विवाह हो ।......ऐसा खर्च किस काम आवेगा ? एक का मरना और भूखंडों का पेट भरना।

---

६८ संस्कारविधि, गर्भाधान प्रकरण, पृष्ठ ३५,३६

६९ संस्कारविधि, विवाह प्रकरण, पृष्ठ १३०

७० संस्कारविधि, विवाह प्रकरण, पृष्ठ १३६

मरे हुए पुरुष के सम्बन्धी पुत्रादिकों को क़र्ज़े में डुबाना, इससे बढ़कर दीवानापन और क्या हो सकता है ? ७१

ईश्वर के समीप स्त्री पुरुष दोनों बराबर हैं क्योंकि वह न्यायकारी है। उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। ७२

विवाह में परस्पर स्त्री-पुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे । बचपन में विवाह होने से भला लड़का लड़की इन बातों को क्या जान सकते हैं ? ७३

---

७१ उपदेशमञ्जरी, पृष्ठ १३५ (आर्य पुस्तकालय बरेली द्वारा सन् १६३१ में छठी वार मुद्रित)

७२ उपदेशमञ्जरी, पृष्ठ १३७

७३ उपदेशमञ्जरी, पृष्ठ १३९

प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ॥ ९ ॥

जबतक एक मति, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है। ७४

परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोड़के आनन्द को बढ़ावें। ७५

परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे प्रीति परस्पर मेल और एक-दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। ७६

वे धर्मात्मा लोग धन्य हैं जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टि-क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुँचाते हैं और शोक है उनपर जोकि इनसे विरुद्ध स्वार्थी,

---

७४ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास १०, पृष्ठ १७०

७५ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास १०, पृष्ठ १७४

७६ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास १४, पृष्ठ३२८

दया-हीन होकर जगत् में हानि करने के लिए वर्त्तमान हैं। पूजनीय जन वे हैं जो अपनी हानि होती हो तो भी सबके हित के करनेमें अपना तन, मन, धन लगाते हैं और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सब के सुखों का नाश करते हैं। ७७

सुगन्धादि-युक्त चार प्रकार [एक सुगन्ध गुण-युक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्ट गुण-युक्त जोकि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं। तीसरा पुष्टि-कारक गुण-युक्त जोकि घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं, और चौथा रोग-नाशक-गुण-युक्त जोकि सोमलतादि ओषधि आदि हैं] के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्ध द्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपाके उनमें छौंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब

---

७७ गोकरुणानिधि, भूमिका

जगत् को सुख करता है। इससे वह यज्ञ परोपकार के लिए होता है। ७८

जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उसके अणु अलग-अलग होके आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है। ७९

---

७८ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविचार विषय, पृष्ठ ५०, ५१

७९ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविचार विषय, पृष्ठ ५९ ५८,

सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ॥ १० ॥

सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे। ८०

जो एक-दूसरे के आधीन काम है वह-वह आधीनता से ही करना चाहिए जैसा कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के आधीन व्यवहार। अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण अनुकूल रहना व्यभिचार वा विरोध कभी न करना पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और बाहर के काम पुरुष के आधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फँसने से एक दूसरे को रोकना अर्थात् यही निश्चय जानना। ८१

जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। ८२

---

८० आर्यसमाज उपनियम, संख्या ३३

८१ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास चतुर्थ, पष्ठ ६८

८२ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६, पष्ठ १२२